पुर्नमुद्रण

" ऋतम्भरा स्यादमृतत्ववर्षिणी "

ऋतम्भरा

योग की त्रैमासिक पत्रिका

" पातञ्जल प्रोक्त क्रियायोग : 'स्वरूप' एवं 'महत्व' "

डॉ. बी. आर शर्मा

अप्रील १९९१

वर्ष ४ अंक २

कैवल्यधाम, लोणावला ४१० ४०३, पुणे
महाराष्ट्र (भारत)

"पातञ्जल प्रोक्त क्रियायोग : 'स्वरूप' एवं 'महत्व' "*

डॉ. बी. आर शर्मा
शोधाधिकारी
दार्शनिक साहित्यानुसंधान विभाग,
कैवल्यधाम, लोणावला (पूना)

प्रत्येक व्यक्ति में 'जानने की शक्ति', 'भावनात्मक अर्थात् इच्छाशक्ति' एवं 'क्रिया करने की शक्ति' पाई जाती हैं। इन्हीं शक्तियों के माध्यम से चेतनतत्व बाह्य जगत् के सम्पर्क में आता है। इस लिए प्रत्येक व्यक्ति को शक्ति की इकाई कहा जाता है। कोई भी क्रिया, 'ज्ञान एवं इच्छा के विना हो ही नहीं सकती। अतः कहा जा सकता है कि ज्ञान– इच्छा एवं क्रिया परस्पर अन्योन्याश्रित हैं[१]।

पाश्चात्य दार्शनिकों तथा शिक्षामनोवैज्ञानिकों ने भी व्यक्ति की शक्तियों को उस के व्यवहार के आधार पर तीन भागों में विभाजित किया है। जिसे वे Cognitive behaviour अर्थात् जिस का सम्वन्ध व्यक्ति के ज्ञानात्मक क्षेत्र से, Affactive behaviour जिस का सम्वन्ध उस के भावनात्मक क्षेत्र से तथा Psycho-motor behaviour अर्थात् जिसका सम्वन्ध व्यक्ति के मनोशरीरात्मक क्षेत्र से अर्थात् क्रिया क्षेत्र से है। इन तीनों क्षेत्रों का अपना महत्व होते हुए भी ये

* प्रस्तुत शोधप्रवन्ध प्रातः स्मरणीय दिवंगत स्वामी दिगम्वरजी की स्मृति में आयोजित संगोष्ठि में २८ अक्टूबर १९९० को दार्श-साहित्यानुसंधान विभाग, कैवल्यधाम में पढा गया।

एक दूसरे से जुडे हुए रहते हैं। इन के समन्वयात्मक विकास से ही व्यक्ति के व्यक्तित्व निर्माण की चर्चा उन विचारकों ने की है२। इस प्रकार भारतीय एवं पाश्चात्य चिन्तकों ने व्यक्ति के सर्वाङ्गीण विकास के लिए इन उपर्युक्त तीन आयामों के समन्वयात्मक विकास को अपना आधार बनाया है। अन्तर इतना ही है कि पाश्चात्य चिन्तकों ने व्यक्ति के इस विकास का उपयोग बाह्य जागतिक पदार्थो के जानने तक सीमित रखा है परन्तु भारतीय चिन्तक बाह्य जगत् के पदार्थो के ज्ञान से भी आगे आत्मतत्त्व के साक्षात्कार को अपना ध्येय मानते हैं।

पातञ्जलयोग में व्यक्ति के इन उपर्युक्त तीनों आयामों की इकाई को 'चित्त' पद से अभिहित किया लगता है। यद्यपि महर्षि पतञ्जलि ने इस चित्त पद को परिभाषित नहीं किया किन्तु इस के व्यापारों का क्लिष्ट एवं अक्लिष्ट पदों से संकेत किया है। यदि इस चित्त पद के मूलधात्वार्थ की परीक्षा करें तो चित्त शब्द ∠ चिति संज्ञाने 'भ्वादिगणीय' तथा ∠ चिति स्मृत्याम् चुरादिगणीय धातु से भाव में क्त प्रत्यय से बना है। जिस का सामान्य अर्थ हैं 'सम्यग् प्रकार से जाना हुआ'। योग के सन्दर्भ में इसका विशेषार्थ होगा ऐसी प्रक्रिया जिस में ज्ञान की सम्पन्नता तथा निरन्तर स्मरण के मुख्य साधन होने का भाव अन्तर्निहित है३। इस विशेषार्थ से ज्ञात होता है कि व्यक्ति के उन तीन आयामों का कार्यक्षेत्र चित्त ही है।

भाष्यकार व्यास ने चित्त को अर्थात् चित्त की इस प्रक्रिया को जिस की तुलना उन्होंने नदी की धारा से की है, उसे उभयवाहिनी बताया है। पापवाहिनी अर्थात् संसारोन्मुख बहनेवाली अर्थात् कल्याण वाहिनी एवं आत्मस्वरूपोन्मुख बहने वाली४। व्यास के इस कथन से तथा पतञ्जलि के क्लिष्ट एवं अक्लिष्ट व्यापार वाले कथन से प्रतीत होता है कि एक ही शक्ति जिस के सदुपयोग से व्यक्ति आत्मस्वरूपोन्मुख एवं दुरूपयोग से संसारोन्मुख प्रवाहित होने की चेष्टा कर सकता है, परन्तु मनुष्य का चित्त जो पूर्व अनुभवों के संस्कार-वासनाओं का पुञ्ज है, अनादिकाल से चले आ रहे स्वभाव से

संसारोन्मुख वहता हुआ निरन्तर विषयवासनाओं के जाल में फंसा रहता है । जिन विषयों से उसे सुख मिलता है उनके प्रति उसका राग जागृत होता है तथा सुखप्रदान करनेवाले विषयों में बाधा उत्पन्न करने वाले विषयों के प्रति द्वेष उत्पन्न होता है । ये राग एवं द्वेषादि क्लेश ही उसकी समस्त चेष्टओं का कारण होते हैं । यही चेष्टायें उस के कर्म की प्रवृत्ति का कारण बनती है । इस प्रकार व्यक्ति का संसारोन्मुख प्रवाह उस के 'जन्म–आयु एवं भोग' का कारण बनता है । किन्तु जो व्यक्ति इस 'जन्म–आयु–भोग' रूप प्रवाह से छूटना चाहता है, उसके लिए आवश्यक है कि वह उस शक्ति को, जो चित्तनदी के माध्यम से संसारोन्मुख प्रवाहित हो रही है उसे मोड देकर आत्मस्वरूपोन्मुख प्रवाहित करने का प्रयास करे। संभवत: इसी उद्धेश्य से प्रेरित होकर महर्षि पतञ्जलि ने योग को 'चित्तवृत्तिनिरोध' के रूप में परिभाषित किया है५ ।

इस चित्तवृत्तिनिरोध रूप साध्य की प्राप्ति हेतु महर्षि पतञ्जलि ने विभिन्न प्रकार के साधनों की चर्चा की है, जिनमें अभ्यास–वैराग्य,६ क्रियायोग७ एवं अष्टांगयोग८ प्रमुख हैं । इन साधनों में क्रियायोग के तीन अगों 'तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान' को पुन: अष्टांगयोग में नियमान्तर्गत गिनाया गया है९ । इस सन्दर्भ में जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि एक ही संकल्पना को दो स्थानों में उधृत करने का उद्देश्य क्या है? यद्यपि सूत्रकार ने क्रियायोग के इन तीनों अंगों के प्रतिपादन का प्रयोजन 'समाधिभावनार्थ: क्लेशतनु-करणार्थश्च' II/2 के रूप में स्पष्ट किया है किन्तु योगसूत्र के प्राचीन एवं अर्वाचीन व्याख्याकारों ने क्रियायोग के रूप में प्रतिपादित इन तीनों अगों पर विशेष रूप से प्रकाश नहीं डाला । यदि प्रकाश डाला भी है तो अष्टांगयोग के अंग के रूप में । अत: उनके कथनों से महर्षि पतञ्जलि का आशय स्पष्ट हुआ नहीं लगता । प्रस्तुत निवन्ध में इस समस्या के समाधान का प्रयास किया गया है ।

क्रियायोग में क्रिया पद प्रक्रिया का द्योतक लगता है तथा योग का अभिप्राय है 'चित्तवृत्तिनिरोध' । इस प्रकार क्रियायोग का अभिप्राय

हुआ ऐसी क्रिया या प्रक्रिया जो चित्तवृत्तिनिरोध की प्रवर्तक हो उसे क्रियायोग कहा जाएगा। इस प्रक्रिया के मुख्य तीन अंग हैं 'तप–स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान'। इस प्रक्रिया के इन साधनों में तथा चित्त–वृत्ति–निरोध रूप योग के पदों में आवश्यक कुछ सूक्ष्म सम्बन्ध होना चाहिए सर्वप्रथम इसी की परीक्षा हम क्रमश: यहां करेंगें।

क्रियायोग का प्रथम अंग तपस्, तप धातु में असुन् प्रत्यय से बना है जिस का अर्थ है 'तपाना', 'चमकाना' या 'शुद्धकरना'। योग में इसका अर्थ होगा– अपनीं उस शक्ति को चमकाना या शुद्धकरना जिस से साधक चित्त के स्तर पर होने वालीं क्रियाओं प्रतिक्रियाओं को सहन करने में सक्षम हो पाता है। भाष्यकार व्यास भी द्वन्द्वों को सहन करना तप मानते हैं[१०]। तप के महत्व को दर्शाते हुए उन्होंने कहा है कि जो तपस्वी नहीं उसे योग सिद्ध ही नहीं हो-सकता[११]। सूत्रकार ने स्वयं तप के द्वारा अनादिकालीन विषय-वासना रूपी अशुद्धि का क्षय होने से काय एवं इन्द्रियों की सिद्धि की चर्चा की है[१२]। कायसिद्धि को उन्होंने कायसंपत् नाम दिया है, जिसकी प्राप्ति होने पर साधक का शरीर दर्शनीय रूप वाला, कान्ति-वाला, वज्रसदृश दृढ अवयववाला हो जाता है[१३]। इसी प्रकार इन्द्रियसिद्धि होने से साधक का शरीर मन के समान वेगवाला हो जाता है। इस भाव को सूत्रकार ने मनोजवित्व पद से दर्शाया है। साथ ही शरीर की अपेक्षा के विना इन्द्रियों की कार्यक्षमता वढ जाती है। जिसका संकेत सूत्रकारने विकरणभाव पद से किया है[१४]।

इन उपर्युक्त कथनों के आधार पर कहा जा सकता है कि तपस् चित्त के इस मनोशरीरात्मक आयाम से सम्बन्धित लगता है। इस कथन की पुष्टि तभी संभव हो पाएगी, जब हम चित्त के स्तरपर होने वाली क्रियाओं प्रतिक्रियाओं को समझें।

चित्त जिसे हम पूर्व अनुभवों के संस्कार वासनाओं का पुञ्ज कह चुके है, इन्द्रियों के माध्यम से विषयाकार हुआ उन पूर्व अनुभवों

के आधार पर अभीष्ट विषय का चुनाव करने लगता है। चित्त के इस व्यापार को ही वृत्ति कहा जाता है। चितिशक्ति अर्थात् पुरुष चित्त के उस व्यापार को अपने में आरोपित कर अपने आपको सुखी दुःखी मानने लगता है। यही है उस चितिशक्ति का वृत्ति के साथ तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित कर लेना जिसे पतञ्जलि ने वृतिसारुप्य पद से कहा है१५। व्यक्ति अपनी समस्त क्रियाओं के लिए स्वतन्त्र है, जैसी क्रिया वह करेगा वैसी ही प्रतिक्रिया होगी। अतः यहां व्यक्ति वृत्ति के साथ एकाकार हुआ सांसारिक विषयों की ओर आकृष्ट हुआ अपनी उस शक्ति को नष्ट करता है, वहीं साधक वृत्ति के साथ एकरूप न हो अपनी उस शक्ति को बचा लेता है। जिस के प्रभाव से द्वन्द्व उसे विचलित नहीं कर पाते। यही क्षमता योग में तप से प्राप्त की जानी अभीष्ट लगती है।

तप के सन्दर्भ में अन्य अर्थ जो परम्परागत विद्वानों द्वारा उद्धृत किए हैं जैसे शरीर एवं मन का शोषण इत्यादि१६। इन अर्थों को योग के सन्दर्भ में अधिकृत नहीं किया जा सकता। क्योंकि इच्छा पूर्वक शरीर का शोषण तो विभिन्न समस्याओं का उद्भावक हो सकता है, जैसा कि अन्तरायों के सन्दर्भ के वर्णित है१७। संभवतः इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि तप उतना ही करना चाहिए जिस से धातुवैषम्य न हो१८। विज्ञान-भिक्षुभी इसी मत के समर्थक हैं। उन का कथन है कि तप उतना ही करे जो चित्त प्रसादन को बनाए रखे१९। यही चित्त की विशेष स्थिति जिसे एकाग्र कहा जाता है। इसी में साधक अपनी क्षमता को पहचान सकता है। यही क्षमता चित्तशुद्धि आदि नामों से जानी जाती है। जिस प्रकार सुनार सोने में मिली धुली को आग में तपा कर शुद्ध करता है। उसी प्रकार साधक तप के द्वारा अनादिकालीन क्लेशादि वासनाओं से मलिन चित्त को परिशुद्ध कर पाता है।

इस प्रकार चित्त के स्तर पर होनेवाले तप के सूक्ष्म प्रभाव को हमने समझा किन्तु इस सूक्ष्म स्तरतक पहुँचने के लिए तप की स्थूल

प्रक्रिया, जिसे शास्त्रों में 'कायिक–वाचिक–मानसिक' तप कहा है जो सर्व विदित है, को भी नकारा नहीं जा सकता। अग्निपुराण२० एवं मनुस्मृति२१ में प्राणायाम को परमतप के रूप में उद्धृत किया है। इस प्राणायाम की प्रक्रिया में साधक प्राणशक्ति का सहारा लेकर चित्त के स्तरतक पहुँचता है। क्यों कि चित्त एवं प्राण का पारस्परिक सम्बन्ध अटूट एवं अविच्छेद्य है। चित्त के निरोध से प्राणस्पद रुक जाता है तथा प्राणस्पन्द की शिथिलता से चित्त एकाग्र हो पाता है। यही चित्त एकाग्रता योग के चरमलक्ष्य को प्राप्त करवाने की प्राथमिकसीढी कही गई हैं। इस उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि तप साधक के मनोशरीरात्मक क्षेत्र से सम्बन्धित है, जिसे चित्त का क्रियात्मक आयाम कहा गया है।

क्रियायोग का दूसरा अंग स्वाध्याय है जो वृत्ति पद से जुडा हुआ सा लगता है। सर्वप्रथम स्वाध्याय को समझें : स्वाध्याय शब्द दो पदों के संयोग से बना है 'स्व एवं अध्याय'। अध्याय का अभिप्राय है अध्ययन करना अर्थात् जिस में 'अध्ययन–मनन एवं चिन्तन' का भाव अन्तर्निहित है। स्व का भाव है 'अपने आप का'। इस प्रकार स्वाध्याय का अभिप्राय हुआ अपने आप का अध्ययन–मनन या चिन्तन करना। अब प्रश्न उठता है कि साधक अपने आप का अध्ययन मननादि करे कैसे? महर्षि व्यास एवं अन्य व्याख्याकारोंने प्रणव–गायत्री आदि पवित्र मन्त्रों के जाप तथा मोक्षप्रदशास्त्रों के अध्ययन को स्वाध्याय कहा है२२। इन कथनों से ज्ञात होता है कि स्वाध्याय का सूक्ष्म अर्थ तत्वचिन्तन का सामर्थ्य प्राप्त करना ही है। मात्र पुस्तकीय ज्ञान या दूसरों के अनुभवों से प्राप्तज्ञान जिसे योग में सामान्यज्ञान ही कहा जा सकता है, साधक के अभ्यास में सहायक तो हो सकता है किन्तु पूर्णतया उपयोगी नहीं माना जा सकता। इस कथन की पुष्टि व्यास के 'योगएवोपाध्याय' से की जा सकती है। अत: एक ही माध्यम है, वह है चित्त में उठनेवाली तरंगे जिन्हें वृत्ति कहा गया है उन का तटस्थभाव से देखना। उन तरंगों का उठना स्वाभाविक है किन्तु जब साधक उन तरंगों के साथ एकरूप नहीं होता, वे

तरंगे उस के लिए क्लेशदायिनी नहीं होतीं। वृत्तियों से तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित न करने का अभिप्राय है 'चुनाव न करना' यही है तटस्थभाव से देखने की प्रक्रिया, जिस का संकेत स्वाध्याय पद से किया गया लगता है।

इस विवेचन से प्रतीत होता है कि स्वाध्याय चित्त के उस ज्ञानात्मक क्षेत्र से सम्बन्धित है जिसे वृत्ति कहा गया है। इस भाव क वृत्ति पद के धात्वार्थ से भी स्पष्ट किया जा सकता है। वृत् धातु से क्तिन् प्रत्यय लगाने पर वृत्ति शव्द निष्पन्न होता है। जिस का अभिप्राय है चुनना या पसन्द करना। साधक यहाँ चुनाव करने में स्वतन्त्र है, वही चुनाव न करने में भी स्वतन्त्र है किन्तु चुनाव करना या न करना तभी संभाव हो सकता है जव कोई निर्णायकशक्ति वहां उपस्थित हो। वह निर्णायकशक्ति जिस की प्रवृत्ति चुनाव करने की थी, जिसे अशुद्धि कहा गया है, उसे चुनाव न करने की ओर प्रवृत्त करना ही उस वृत्ति की शुद्धि करना है। अतः जैसे ही साधक उस वृत्ति को तटस्थभाव से देखता है तभी वह जान पाता है कि चित्त में ये वृत्तियां उठती कैसे है? उठने का कारण क्या हैं? तथा वे जाती कहां हैं? इस प्रकार के मनन चिन्तन से चित्त के उस ज्ञानात्मक क्षेत्र को जिस का प्रवाह वृत्तियों से तादात्म्य वना लेने का था। वह प्रवाह समाप्त हो जाता है। स्वयं सूत्रकारने स्वाध्याय के महत्व को दर्शाते हुए कहा है कि साधक अपने अभीष्ट को प्राप्त करनें में समर्थ हो पाता हैं[२३]। यही है वह उपर्युक्त तत्त्व चिन्तन का सामर्थ्य प्राप्त करना। इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि स्वाध्याय का सम्बन्ध चित्त के उस ज्ञानात्मक क्षेत्र से सम्वन्धित है जिसे वृत्ति कहा गया है।

क्रियायोग का तृतीय अंग ईश्वरप्रणिधान जिसे सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो निरोध पद से सम्बन्धित लगता है। निरोधपद ऐसी स्थिति या अवस्था का द्योतक है जिसमें वृत्तियों का अभाव हो। यही भाव ईश्वरपद की परिभाषा में सूत्रकारने स्पष्ट किया है जिस के अनुसार

ईश्वर में क्लेशकर्माशयों का नितान्त अभाव रहता है२४। यह स्थिति चित्तवृत्तियों के निरूद्ध हो जाने पर ही संभव हो पाती है। जो प्रणिधान पद से वाच्य है प्रणिधान पद में 'प्र' उपसर्ग प्रकर्ष अर्थ में तथा 'निधान' स्थान या स्थिति का द्योतक है। अतः ईश्वरप्रणिधान का तात्पर्य हुआ मन की ऐसी स्थिति जिस में मात्र ईश्वरभाव हो। इस की संभावना तब होती है जब साधक तपश्चर्या द्वारा चित्त को नियन्त्रित रखने में तथा स्वाध्याय द्वारा उस के व्यापारों में एक रूप नहीं होता तभी उसकी प्रवृत्ति ईश्वरीय भाव की ओर हो पाती है। इसीलिए क्रियायोग में इस अंग को तृतीय अंग के रूप में रखा गया लगता है। सूत्रकारने ईश्वरप्रणिधान से समाधिसिद्धि की चर्चा की है२५। प्रश्न उठता है कि यदि समाधिसिद्धि ईश्वरप्रणिधान मात्र से संभव थी तो अन्य उपायों के प्रतिपादन की क्या उपादेयता रही होगी। वाचस्पति मिश्रने इस प्रश्न का निराकरण किया है। उन के अनुसार योग सूत्र में वर्णित सभी उपाय प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से ईश्वरप्रणिधान की सिद्धि में सहायक होते हैं२६। इस कथन से स्पष्ट होता है कि प्रारम्भ में व्यक्ति में ईश्वरीय भाव की अर्थात् वृत्तिनिरोध की इच्छा जितनी परिपक्व होगी, उतना ही साधक उस ईश्वरीय-भाव के प्रेरक सद्ग्रन्थों के या प्रणवादि मन्त्रों के स्वाध्याय की ओर प्रेरित होगा, तब जो क्रिया होगी वह ईश्वरीयभाव की या चित्तवृत्तिनिरोध हेतु ही होगी। इसी भाव को भाष्यकार व्यास तथा अन्य व्याख्याकारोंने प्रकट किया है। उन के अनुसार अपने समस्त कर्मों का उस परमगुरु ईश्वर में समर्पण करना ही ईश्वर प्रणिधान है२७।

इस प्रकार क्रियायोग के इन तीनों अंगों के समन्वित अभ्यास से साधक योग के चरमलक्ष्य को प्राप्त करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। व्यक्ति जिसे हम ने 'ज्ञान इच्छा एव क्रिया' रूप शक्ति की इकाई कहा है। तपस् के अभ्यास से साधक अपने मनोशरीरात्मक क्षेत्र से वहनेवाली शक्ति, स्वाध्याय के अभ्यास से ज्ञानात्मक क्षेत्र तथा ईश्वरप्रणिधान के अभ्यास से भावनात्मकक्षेत्र से वहने वाली

शक्ति का सदुपयोग कर चित्त के संसारोन्मुख प्रवाह को आत्मस्वरूपोन्मुख प्रवाहित करने में सक्षम हो पाता है।

यहां प्रश्न उठाया जा सकता है कि 'तप–स्वाध्याय एवं ईश्वर-प्रणिधान' का अभ्यास अलग २ कैसे किया जा सकता है? जबकि ये तीनों अंग अन्योन्याश्रित है। इस शंका का समाधान ऐसे किया जा सकता है कि साधक में चित्त के जिस क्षेत्र का प्रवाह अधिक हो उसे मुख्य रूप से आगे रखकर अभ्यास किया जा सकता है किन्तु अन्य दो भाग उसके सहायक होंगे ही। क्योंकि इन तीनों अंगो को एक दूसरे से अलग किया ही नहीं जा सकता। मात्र समझने की दृष्टि से इन का प्रतिपादन पृथक् पृथक् किया जाता है। संभवतः यही कारण रहा होगा जो पतञ्जलि ने क्रियायोग को एक वचनान्त पद के रूप में उद्धृत किया है।

महर्षि पतञ्जलि ने क्रियायोग प्रतिपादन के दो प्रयोजन बताए हैं२८। १) क्लेशों का तनुकरण २) समाधि भावना का उदय। सूत्रकार के इस कथन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि जब तक साधक अविद्यादि क्लेशों का तनुकरण नहीं कर लेता, योग के क्षेत्र में आगे बढ ही नहीं सकता। अपितु वह योग विघ्नों के चगुंल में ही फंसा रहता है। इसलिए सर्व प्रथम क्रियायोग के रूप में प्रतिपादित इन उपर्युक्त अंगो के अभ्यास की अवश्यकता स्वयं सिद्ध होती है। जिस के अभ्यास से साधक अपनी अन्तः शक्तियों की पहचान कर उन्हें शुद्ध एवं सात्विक बना पाता हैं। तत्पश्चात् ही साधक अष्टांगयोग जैसी सूक्ष्म साधना में सुगमता से आरूढ हो पाता है। इस कथन को पातञ्जल प्रोक्त अष्टांगयोग के प्रतिपादन के प्रयोजन से भी स्पष्ट किया जा सकता है। उन के अनुसार अष्टांगयोग के अनुष्ठान से क्लेशरूपी अशुद्धि का क्षय एवं ज्ञानदीप्ति अर्थात् विवेकख्याति का प्रादुर्भाव होता है२९। जबकि क्रियायोग उस क्लेशरूपी अशुद्धि का तनुकरण मात्र करने में सक्षम है। सूत्रकार के इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि जबतक साधक विछिन्न एवं उदार अवस्था वाले

क्लेशों का तनुकरण नहीं कर लेता है, समाधि की ओर प्रवृत्त ही नहीं हो पाएगा। अतः उसका क्लेशतनुकरण ही समाधि की ओर प्रवृत्ति का कारण है इसे हम स्थूल क्रिया कह सकते है। वही क्रिया जब उन क्लेशों के सम्पूर्ण क्षय एवं विवेकख्याति की उद्भावक होती है। तब उसे सूक्ष्म क्रिया कहा जा सकता है। इसी भाव को प्रातः स्मरणीय दिवंगत स्वामी दिगम्बरजी के शब्दों में समझें तो ऐसा लगता है कि उन के अनुसार सर्वप्रथम क्रिया देहनिष्ट होती है जिसे 'प्रयोग' की संज्ञा दी है। वही क्रिया जब सूक्ष्म बनकर अन्तःकरण-निष्ट होती है तब उसे संप्रयोग की संज्ञा तथा वही सूक्ष्म क्रिया जब स्वानुभूति की प्रतीति का कारण बनती है तो उसे संप्रसाद कहा जाता है। इस प्रकार तप-स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान को स्वामीजी ने 'कर्म–उपासना एवं ज्ञान की शास्त्रीय परम्परा का प्रतीक माना है। जो अध्यात्ममार्ग के नाम से सुप्रसिद्ध है[३०]।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जब तक साधक अपनी मानवीयशक्तियों को पहचान नहीं लेता, उन का सदुपयोग करना सीख नहीं लेता, जीवन के किसी भी लक्ष्य को, चाहे लक्ष्य भौतिक जगत् से सम्बन्धित हो या आध्यात्म-जगत् से, प्राप्त नहीं कर पाता। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर महर्षि पतञ्जलिने 'तप–स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान' रूप प्रक्रिया को चित्तवृत्ति–निरोधरूप योगसाधना का प्रथम सोपान बताया है। क्योंकि अष्टांगयोग जैसी सूक्ष्म योगसाधना तभी संभव हो सकती है जब साधक में क्लेशों का तनुकरण एवं समाधि प्राप्ति का भाव जागृत हुआ हो। अन्यथा अहिंसा, सत्य इत्यादि भागों का जो सूक्ष्म प्रतिपादन सूत्रकारने दिया है उसे समझना उतना ही कठिन है जितना व्यवहार में लाना।

अतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि अष्टांगयोग के अनुष्ठान में आरूढ होने के लिए तथा उस में सफलता पाने के लिए क्रिया-योग के रूप में प्रतिपादित इन तप–स्वाध्याय ईश्वरप्रणिधान रूप अंगो का उतना ही महत्व है जितना कि किसी उच्चमहल की नींव का।

इतिशम्

सन्दर्भ–सूची

१. क. तस्मात् यत्पुरूषो मनसाभिगच्छति तद्वाचा वदति तत्कर्मणाकरोति।
(नृतापिन्योपनिषद् 1–1)

ख. ज्ञानजन्यभवेदिच्छा इच्छाजन्याकृतिर्भवेत्।
कृतिजन्य भवेत् कर्म तदेतत् कृतमुच्यते। (याज्ञवल्क्य)

२. क. Bloom, et al (ed) : Taxonomy af Educational objcetives : The Classification of Educational Goals, Hondbook 1 : Cognitive Domain New yark : David M. C Kay co, 1956.

ख. Krathwohl, David et al (Ed) : Taxonomy of Educational Objectives : the Classification of Educational Goals, Hand book 2 : The Affective Damain New york : David M C. kay co. 1964.

ग. Harrow, Anita J. Taxonomy of the Psycho-motor Domain New York : David M C kay Co. 1972.

३. पातञ्जल योग दर्शन द्वारा आचार्य उदयवीर शास्त्री I–2

४. चित्तनदी नामोभयतो वाहिनी। वहति कल्याणाय वहति पापायच।
या तु कैवल्य प्राग्भारा विवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा।
संसारप्राग्भाराऽविवेक विषयनिम्ना पापवहा (व्यासभाष्यI/12)

५. योगसूत्र I/2

६. वही I/12

७. वही II/1

८. वही II/29

९. वही II/32

१०. तपो द्वन्द्वसहनम् (व्या. भा. II/32)

११. नातपस्विनो योग सिद्धयति (व्या. भा. II/1)

१२. कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपस: (यो. सू. II/43)

१३. योग सूत्र III/46

१४. वही III/48

१५. वही I/4

१६. शरीरशोषणं प्राहुस्तापसास्तप उत्तममिति (योग सि. चन्द्रिका द्वारा-नारायणतीर्थ II/1)

१७. योग सूत्र I/30–31

१८. तावन्मात्रमेव तपश्चरणीयं, न यावताधातुवैषम्यमापद्येतेत्यर्थः (तत्व वै. II/1)

१९. तच्च तपाश्चित्तप्रसादाविरोधिमृदुएवानेन योगिनाकर्तव्यमिति। (योग वा. II/1)

२०. अग्निपुराण 215/5

२१. मनुस्मृति 2/183

२२. क. प्रणवादि पवित्राणां जपः, मोक्षशास्त्राध्ययनंच वा (व्या.भा.II/1)

ख. प्रणवादयः पुरुषसूक्तरुद्रमण्डल ... वैदिकाः (तत्व वै. II/1)

ग. स्वाध्याय उपनिषदाद्यावृत्ति ...(योग. सि. चन्द्रिका II/1)

२३. योगसूत्र II/44

२४. योगसूत्र I/24

२५. वही II/45

२६. ईश्वरप्रणिधानसिद्धौ दृष्टाऽदृष्टाऽवान्तरव्यापारेण तेषामुपयोगात् (त. वै II/25)

२७. क. ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा व्या. भा. II/1

ख. योग वार्तिक II/1

ग. त. वै. II/1

घ. यो. सि. च. II/1

२८. योगसूत्र II/2

२९. योग सूत्र II/28

३०. SKY Vol. 1.2.3 मई 1970 पृ. 35